

## यथार्थ के धरातल पर दलित आत्मकथाओं का मूल्यांकन

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव,

एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,  
डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

आत्मकथाएँ पहले से ही लिखी जा रही हैं। कई साहित्यकार हैं जिन्होंने सक्रियता के साथ आत्मकथाएँ लिखी हैं। परन्तु उनकी आत्मकथाएँ और दलित साहित्यकारों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में मूलभूत अन्तर होता है। यह प्रश्न भी अनेक बार उठ चुका है कि वर्तमान के दलित साहित्यकार सोच-समझकर आत्मकथा ही क्यों लिख रहे हैं? क्या ये दलित साहित्यकार के दबाव में आत्मकथाएँ नहीं लिख रहे हैं? ऐसे सवाल का उत्तर देते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना है कि 'रही बात दबाव में लिखने की तो यह काम वही लोग कर सकते हैं, जिनको लिखने से जबरन रोका गया।' सोच-समझ कर लिखने का प्रश्न कोई प्रश्न नहीं है। ऐसा कौन सा लेखन है जो बिन-सोचे समझे हो जाता है। अपितु सोच-समझ कर किया गया काम तो और भी अच्छा होता है। वैसे शोषित लोगों को जब भी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला, उसने उसे प्राप्त करने का अवसर नहीं गंवाया और पढ़-लिखकर उसने जब अपनी व्यथाओं को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया तो उसने सबसे पहले आत्मवृत्तांत ही लिखना आरम्भ किया। "अमेरिका के अश्वेतों और रेड-इंडियन ने जब लेखन के द्वारा आन्दोलन में जागरूकता लानी आरम्भ की तब सबसे पहले उनमें से नब्बे प्रतिशत ने आत्मकथाएँ ही लिखीं। विश्वभर में ऐसे लोगों ने अपनी समस्याओं की वैचारिक शुरुआत आत्मकथा लेखन से ही की, क्योंकि आत्मकथा एक प्रामाणिक अभिलेख के रूप में सामने आती है। इस प्रामाणिक अभिलेख की विश्वसनीयता से

शोषक हमेशा घबराता रहा है। साथ ही-साथ आत्मकथा भुक्तभोगी समुदाय में एक विशेष प्रकार की जागृति का कार्य करती है, जो उस समाज में वैचारिक उत्तेजना का संचार करती है।'<sup>1</sup>

आत्मचरित्र आधुनिक मराठी साहित्य की एक समृद्ध विधा रही है। विशेषतः सन् 1960 ई० के बाद जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्यरत व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाएँ बड़ी बेवाक भाषा में लिखना शुरू कर दिया। दलितों की विभिन्न जातियों के शिक्षित लेखकों ने भी अपनी आत्मकथाएँ लिखनी शुरू कर दीं। इनकी आत्मकथाओं की यह विशेषता रही है कि इसमें वे अपने बहाने अपनी जाति की भयावह स्थिति का, प्रस्थापितों और सवर्णों की शोषण-वृत्ति का, जातिगत संस्कृति, संस्कार अन्धश्रृद्धाएँ, खान-पान आदि का बड़ा ही तीखा और यथार्थ चित्रण करते हैं। यह आत्मकथाएँ समाज की सबसे निचली श्रेणी के दुखों को शिक्षित समाज तक पहुँचाने में सफल हो गयी। कहानी की अपेक्षा ये आत्मकथाएँ अधिक सशक्त रहीं। पारम्परिक आत्मकथाओं में व्यक्ति अपने जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक की प्रमुख घटनाओं, अनुभवों और सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों को उभारता चलता है। परन्तु दलित-आत्मकथाओं के लेखकों की औसत उम्र 25-40 तक के बीच की रही है। कुछ प्रमुख दलित आत्मकथाएं इस प्रकार हैं— (1) हजारी कृत आई वाज एन आउट कास्ट (अंग्रेजी में 1951), (2) श्यामलाल की "अनटोल्ड स्टोरी ऑफ ए भंगी वाइस चान्सलर (अंग्रेजी), (3) डॉ० डी०आर० जाटव की "मेरा सफर मेरी मंजिल"

(अंग्रेजी में), (4) दया पवार की आत्मकथा "अछूत" (मराठी में), (5) बेबी कावले की "जीवन हमारा" (मराठी), (6) सान्ताबाई कृष्ण जी कांवले की मा ज्या जल माची चित्यूर कथा (मराठी), (7) शरण कुमार लिम्बले की "अक्करमाशी" (मराठी), (8) लक्ष्मण गायकवाड़ की "उठाईगीर" (मराठी), (9) प्रा० ई. सोन कांवले की "यादों का पंछी" आदि।

हिन्दी में मराठी की प्रेरणा से सत्तर-अस्सी के दशक में दलित लेखन आरम्भ हुआ। हिन्दी में प्रमुख आत्मकथाएँ हैं— 1. ओमप्रकाश बाल्मीकि "जूठन", 2. मोहनदास नैमिशराय की "अपने-अपने पिंजरे", 3. कौशल्या वैसन्त्री की "दोहरा अभिशाप", इन रचनाओं में जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं—जातिवाद, रोटी कपड़ा और मकान का व्यापक उल्लेख हुआ है। यही नहीं इन आत्मकथाओं में अपने समाज का सम्पूर्ण दैन्य, दारिद्र्य, अज्ञान, संस्कृति-विकृति, धर्म, मनोरंजन आदि बातों को भी रेखांकित किया है। इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि ये आत्मकथाएँ समाजशास्त्र की पुस्तकें मात्र हैं। कलात्मक स्तर तक ये पहुँची हुई हैं। एक परिसंवाद में लक्ष्मण माने ने कहा है कि 'हमारे समाज में एक जाति के दुख का पता दूसरी जाति को नहीं होता। संवेदनाओं का आदान-प्रदान भी यहाँ नहीं हुआ है। साढ़े तीन प्रतिशत लोगों द्वारा लिखे गये मराठी साहित्य में समाज के दुर्बल वर्ग का चित्रण नहीं हुआ है।' कम-अधिक मात्रा में यही स्थिति हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की है।<sup>2</sup> अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों, दरिद्रता और संघर्ष की स्थिति से इनका व्यक्ति विकसित होता गया है। इस कारण इन आत्मकथाओं का मूल्यांकन सामाजिक और आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में करना पड़ता है। इन आत्मकथाओं का शिल्पगत ढाँचा कहानी के शिल्प के अधिक निकट है। प्रत्येक प्रकरण अपने-आपमें अर्थपूर्ण और स्वायत्त होता है। यँ तो वह एक-दूसरे के साथ जुड़ा

हुआ भी होता है, लेकिन उसकी स्वतन्त्र सत्ता के कारण ही उसके किसी अंश को कहानी विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। आत्मकथा के लेखन पर परम्परावादी लेखकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए हरपाल सिंह अरुण का मानना है कि "जिनके सामने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और आर्थिक प्रगति के प्रश्नों से पहले मानवीय गरिमा के साथ जीने का प्रश्न प्रमुख है, जिनके सामने बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के दोहन स्वरूप जमीन, जंगल और मकान से उखड़ जाने का दुर्भाग्य राक्षस की तरह मुंह बाये खड़ा है, जिनको अपने मूल स्थानों से विस्थापन झेलने की लाचारी से दो-चार होना पड़ रहा है, जिनको महानगरों की झुग्गी झोपड़ियों में नारकीय जीवन जीने की तिव्रता झेलनी पड़ रही है, जिनको पर्यावरण-क्षरण और प्रदूषण की मार झेलती जिन्दगी को जीवन मानने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है, वे अपनी व्यथा-कथा को यदि व्यक्त करना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की किसी ऐसी विधा की दरकार तो होगी ही जो उनके अनुभवों और सोचों को पूरी शिद्दत के साथ सामने ला सके। दलितों के जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए सामाजिक, आर्थिक विद्रूपताओं और असंगतियों को झेलने वाले की भीतरी कशमश को सामने लाने की आवश्यकताओं को जो विश्वसनीयता से वहन कर सके, किसी ऐसी विधा की आवश्यकता दलित साहित्यकारों के द्वारा महसूस की ही जानी चाहिए। व्यक्तिगत अनुभवों की समष्टिगतता प्रदान करने के लिए परिवेश के यथार्थ को झेलते, देखते, अनुभव करते केन्द्रीय पात्र के लिए आत्मकथा लिखने से बढ़कर और कोई उपाय नहीं हो सकता।"<sup>3</sup>

दलित आत्मकथाओं का आरम्भ डॉ० बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा लिखित 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) से होता है। इसके बाद प्र० ई० सोनकांबले द्वारा लिखित 'यादों के पंछी' एक उत्कृष्ट आत्मकथा है। इसमें महार समाज की

यातना को अत्यन्त प्रखरता और जीवन्तता के साथ व्यक्त किया गया है।

दया पवार की 'बलुंत' ('अछूत' नाम से हिन्दी में प्रकाशित) भी इसी परम्परा की कृति है। सोनकांबले की आत्मकथा का केन्द्र अंचल और वहाँ की मानसिकता है तो दया पवार की आत्मकथा का आरम्भ अंचल से होता है; परन्तु सम्पूर्ण आत्मकथा में बम्बई, वहाँ की झुग्गियों में रहती अछूत जातियाँ, उनके सुख-दुख, संस्कृति-विकृति आदि केन्द्र में है। मराठी दलित महिलाएं भी आत्मकथा लेखन में आगे आई हैं। बेबी काँवले, शांता बाई, मुक्तासवा गौड़ आदि।<sup>4</sup>

माधव कोंडविलकर की आत्मकथा 'मुक्काम पोस्ट गोठणे- में भी अनुभूति के नये आयाम उद्घाटित हुए हैं। शिक्षित चमार व्यक्ति को शिक्षकी पेशा करते समय किस भयावह मानसिकता से गुजरना पड़ता है इसका बड़ा सशक्त चित्रण इसमें किया गया है।

शरण कुमार लिम्बाले की आत्मकथा अक्करमाशी में शोषण एवं अमानवीयता तथा गरीबी का यथार्थ चित्रण हुआ है। आत्मकथाओं पर उठाये गये पराम्परावादी साहित्यकारों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए दलित साहित्यकारों का मानना है कि यह सब सोची-समझी रणनीति के तहत किया जा रहा है। परम्परावादी समाज पर टिप्पणी करते हुए मुद्राराक्षस कहते हैं कि, 'इनकी दरिद्रता का अर्थ सिर्फ इतना होता है कि हमने तीन रोज मुर्गा नहीं खाया, दो दिन विलायती शराब नहीं पी एक जगह से दूसरी जगह पैदल चले। पंचसितारा होटलों में नहीं जा सके। गरीबी का स्वरूप यह कि बैंक या विश्वविद्यालय में नौकरी नहीं मिली, गवर्नर या एम्बेसडर नहीं बन सके, कितनी गरीबी झेली', कितनी सटीक उक्ति है। जरा सोचकर देखो, कहां 'अक्करमाशी' का नायक जिसकी मां किसी जमींदार की रखैल है, बहनों की दशा भी इतनी ही दर्द भरी है। सब नायक को अपने सामने झेलना-सुनाना और

सुनना पड़ रहा है। सोचकर देखिए, 'अक्करमाशी' में गरीबी मात्र ही नहीं झेली जा रही, अपितु जो झेला जा रहा है वह इन हिन्दी के आत्मकथाकारों की जीवनी में दूर-दूर तक भी कहीं नहीं रहा होगा।'<sup>5</sup>

कैकाड़ी समाज (विमुक्ति जनजाति) के लक्ष्मण माने की 'उपरा' (पराया) आठवें दशक की उत्कृष्ट आत्मकथा है। माने की उम्र केवल 30-32 वर्ष की है। कैकाड़ी समाज घोर अज्ञानी, अन्धश्रृद्धालु, दरिद्री, अछूत और घुमक्कड़ी वृत्ति का है। ऐसे समाज में जन्म लेकर स्नातक स्तर तक की शिक्षा पाना विशेष बात है। इन प्रमुख लेखकों के अलावा प्रा० केशव मेश्राम, प्रा० कुमुद पावडे, दिनकर गोस्वामी, आत्माराम राठोड़, ना०मा० निमगडे, डॉ० गंगाधर पानतावणे आदि लेखकों ने भी अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं।

### प्रमुख आत्मकथाओं का विश्लेषण

मराठी साहित्य के समांतर हिन्दी साहित्य में भी पिछले वर्षों में कुछ दलित आत्मकथाएँ आई हैं और इन्होंने साहित्य की जड़ता को अपने ढंग से तोड़ा है। हिन्दी दलित साहित्य के क्षेत्र में भी भगवान दास ने 'मैं भंगी हूँ' नाम से एक भंगी मेहतर जाति के इतिहास से सम्बन्धित समाज की आत्मकथा लिखी थी। यह सम्भवतः सन् 1950 ई० के दशक में प्रकाशित हुई थी। आत्मकथा विधा में दलित साहित्य की यह पहली रचना थी, जिसमें एक आत्मविस्मृति दलित जाति के इतिहास की गम्भीर गवेषणा है। इसके काफी समय बाद हिन्दी दलित साहित्य में व्यक्तिगत आत्मकथा के लेखन का दौर आरम्भ हुआ। 9वें दशक में हिन्दी दलित आत्मकथा लिखने की शुरुआत पत्रकार राजकिशोर द्वारा सम्पादित 'हरिजन से दलित' में दलित लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि का आत्मकथांश से मानी जा सकती है। हिन्दी पाठकों व साहित्यकारों में दलित आत्मकथाओं के प्रति

रुझान बढ़ी है और यह साहित्य की प्रमुख विधा बन रही है। इसी की प्रेरणा स्वरूप सन् 1995 ई0 में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' दूसरी आत्मकथा ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'जूठन' 1996 में प्रकाशित हुई।<sup>6</sup> मोहनदास नैमिशराय और ओमप्रकाश बाल्मीकि की आत्मकथाएँ इनमें प्रमुख हैं। नैमिशराय की "अपने-अपने पिंजरे" और बाल्मीकि की "जूठन" श्यौराज सिंह बेचैन की अस्थियों को अक्षर, एक लदोई, जयप्रकाश कर्दम की 'मेरी जात', एन0आर0 सागर 'जब मुझे चोर कहा', सूरज पाल चौहान की 'घूँट के अपमान', बुद्धशरणस हंस की 'टुकड़े-टुकड़े आइना', हिन्दी पट्टी में लगभग उन्हीं जीवन अनुभवों को व्यक्त करती हैं जो मराठी दलित आत्मकथाओं से उजागर होती हैं। कुछ परम्परावादी आलोचक दलित आत्मकथाकारों पर जल्दबाजी के लेखन पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं उनका मानना है कि दलित साहित्यकारों में एक प्रकार की जल्दबाजी देखी जा रही है। लगभग सभी दलित साहित्यकारों ने इतनी जल्दी अपनी-अपनी आत्मकथाएँ भी लिख डाली हैं, कहीं ऐसा नहीं हो जाए कि कुछ दिनों के उपरान्त उनके पास विषय की ही कमी हो जाय? सदियों तक धीरज और यंत्रणा के साथ प्रतीक्षा करने के बाद, अन्याय और शोषण का लगातार निर्मम शिकार होने के बाद अगर उनमें अपना स्थान और मानवीय गरिमा पाने की कुछ अधीरता लगती है तो यह सर्वथा उचित और सामयिक है। उन्होंने अगर जल्दी-जल्दी अपनी आत्मकथाएँ लिख डाली हैं तो इसका एक कारण तो यह होगा कि वे अपने सीधे अनुभवों पर अपना ध्यान एकाग्र करना चाहते हैं। इस बहाने उन्होंने आत्मकथा जैसी हिन्दी में विपन्न विधा को कुछ समृद्ध करने की चेष्टा भी की है। यह खतरा भले हो लेकिन अभी यह मानने का कारण नहीं जान पड़ता कि आत्मकथा से उनका जीवनानुभव चुक जाएगा। उनकी जिजीविषा और सिसृक्षा बनी रहेगी ऐसी आशा करनी चाहिए। दलित संसार स्वयं में बेहद

जटिल और विशाल है और कई हजार लेखकों के लिए उपजीव्य बना रह सकता है। दूसरे, दलित के अलावा बहुत बड़ा संसार है जिस पर लिखने का दलित लेखकों को समान अधिकार है।<sup>7</sup>

ओमप्रकाश बाल्मीकि की टिप्पणी सटीक है कि दलित साहित्य में आत्मकथाओं ने एक विशिष्ट स्थान बनाया है, जो मात्र लेखन की निजी पीड़ा नहीं बल्कि समूचे दलित समाज की व्यथा-कथा बन गई हैं, 'जूठन', 'अपने-अपने पिंजरे' को पढ़कर दलित समाज की जिजीविषा से पाठकों का परिचय हुआ है, हिन्दी साहित्य की जड़ता टूटी है, 'दोहरा अभिशाप', 'तिरस्कृत' के माध्यम से हिन्दी साहित्य को नई जमीन मिली है।<sup>8</sup> वर्तमान में केवल आत्मकथा ही नहीं बल्कि इस समय दलित लेखन या विमर्श का उभार है। यह केवल हिन्दी दलित लेखन के साथ जोड़कर देखने से बात पूरी नहीं होती। न ही हम इसे 20-25 साल के दायरे में जोड़कर देख सकते हैं। इसे आंदोलन की लम्बी परम्परा से जोड़कर देखना होगा। मुझे लगता है कि हिन्दी प्रदेश में यह विमर्श देर से अवश्य शुरू हुआ है लेकिन इसकी अन्दर की जो प्रवृत्तियाँ हैं, समाज को बदलने की समानता की। उसकी अभिव्यक्ति को अगर हम देखें तो हम बहुत पीछे ले जा सकते हैं। दलित मुक्ति का जो प्रभाव लेखन ने ग्रहण किया उसमें आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यही कारण है कि हिन्दी दलित लेखन का जो प्रखर स्वरूप है, वह इन्हीं बीस सालों में दिखाई देता है जो लेखन आया है वह बहुत परिपक्व है, लेकिन इसके स्वरूप को धीरे-धीरे और दुरस्त किया जा सकता है। यह पूरे ओज के साथ चल रहा है, जिसमें समानता के साथ दलितों को अपनी भूमि, सम्मान मिले, अपनी अभिव्यक्ति मिले, उसकी भागीदारी मिले। इसी कोशिश में दलित लेखन लगा है।<sup>9</sup>

दलित आत्मकथाओं पर अपनी टिप्पणी करते हुए डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं

“इनमें दलित छवि एक सचेतन आत्मसंघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं। साथ-साथ उन हाथों को भी पकड़ते हैं जिन्होंने कई, सौन्दर्य से भरी जीवन झांकियों पर ईर्ष्यावश कालिख पोत दी है। कई कारणों से दलित साहित्य में आत्मकथाओं का बड़ा महत्त्व है। ये आत्मकथाएं इतिहास विहीन दलित समाज में सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है। दलितों के दुखों पर गौर करते हुए दलित चेतना के पक्षधर डॉ० अमरसिंह बार-बार इतिहास के सबक दोहराते हैं। दलित आत्मकथाएं सत्य के जरूरी दस्तावेज हैं, इन्हें ब्राह्मणों को प्राथमिकता से पढ़ना चाहिए। यदि वे नहीं पढ़ पा रहे हैं तो वे खुद को नहीं समझ पाएंगे। ज्ञान व्यवस्था के सर्वेसर्वा होने के कारण अतीत में दलितों की जीवन भूमि में ब्राह्मणों ने दुःख बोये हैं, तो दलितों को सुख भी उन्हीं से प्राप्त करना है। “मुद्राराक्षस का इस बारे में विचार है कि ‘दुनिया में जो भी दलित समस्या रही उसकी वैचारिक शुरुआत अपनी कहानी से ही हुई। जैसा कि पिछले बीस वर्षों में रचनात्मक हिन्दी में चूँकि दलित प्रश्न निर्णायक सिद्ध हो गया है, इसलिए सवर्णों को दलित रचनाकारों के आत्मवृत्तान्तों से खौफ महसूस होने लगा। उन्हें महसूस हुआ कि ये जीवनियाँ ऐसा प्रमाणिक दस्तावेज हैं जो दलित समुदाय को जागृति और वैचारिक उत्तेजना देगी। उनमें विजेता की कल्पना पैदा होगी।”<sup>10</sup>

जिन लोगों ने कभी हाथ में कलम नहीं थामी थी, उन्होंने आत्मकथाएँ लिखीं, अपना दुख-दर्द व्यक्त किया, लेकिन परिणाम यह आया कि हिन्दू समाज पर गँडे की चमड़ी की तरह कोई असर नहीं हुआ। श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ जब यह कहते हैं तब इनके दो आशय सामने आते हैं। प्रथम, आत्मकथाओं में दलित समाज के लेखकों ने अपना दुख-दर्द व्यक्त किया है, दूसरे

यह दुख-दर्द इसलिए व्यक्त किया गया था कि हिन्दू समाज इस वेदना को समझेगा और इसके निराकरण के लिए व्यवस्था में परिवर्तन का प्रयास करेगा।”<sup>11</sup>

अमेरिकी ब्लैक पैन्थर (सन् 1966 ई०) की तर्ज पर भारत में सन् 1972 ई० में दलित पैन्थर की स्थापना महाराष्ट्र में राजा ढाले और नामदेव ढसाल ने की। उसके बाद देश भर में कला, साहित्य सम्बन्धी सैकड़ों संस्थाएँ खड़ी हो गयीं। छिपाकर रखी एवं भोगी हुई यातनाएँ आत्मकथाओं के जरिए सार्वजनिक कर दी गयीं। दलितों को आत्मकथा लिखने के खतरे भी बहुत हैं। तब सवाल उठता है कि ऐसे जोखिमपूर्ण कार्य को ये लोग क्यों कर रहे हैं? शरण कुमार लिम्बाले की पत्नी यह प्रश्न करती हैं “कि यह सब लिखने से क्या फायदा? तुम क्यों लिखते हो? कौन अपनाएगा हमारे बच्चों को? या ओमप्रकाश बाल्मीकि की पत्नी उनके ‘सरनेम’ को लेकर कहती हैं ‘कि हमारे कोई बच्चा होता तो मैं इनका सरनेम जरूर बदलवा देती।” जब ये समस्या इतनी गम्भीर हैं तब इस पर सोचने की जरूरत है? लिम्बाले जी कहते हैं “फिर भी मैं लिखता हूँ, यह सोचकर कि जो जीवन मैंने जिया वह सिर्फ मेरा नहीं है। मेरे जैसे हजारों, लाखों का जीवन है। मुख्य प्रेरणा यहाँ यह मिलती है कि अमानवीय जीवन को जिया लाखों यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा, फिर भी यहाँ तक पहुँचा। इसलिए आत्मकथाएं दलित लेखकों के अदम्य जीवन संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती हैं, क्योंकि दलित आत्मकथाकार बताना चाहते हैं कि जो नारकीय जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति विशेष का अपराध नहीं है। शिक्षा, साहित्य, भूमि आदि उत्पादन के साधनों में वंचित और सामाजिक गतिविधियों से अलग-थलग कर हमें मजबूर बना दिया, यह हमारे पूर्वजन्मों के कारण नहीं है बल्कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की नियत के कारण हैं।<sup>12</sup> डॉ० अम्बेडकर ने भी अपनी आत्मकथा ‘मी कसा झाला’ (मैं कैसे बना)

शीर्षक से लिखी, जिसमें आत्मकथा की उपयोगिता व प्रकृति का आभास होता है। 'मेरा विकास किसी अद्भुत शक्ति के कारण नहीं हुआ बल्कि मेरे जीवन निर्माण में परिश्रम और संघर्ष मुख्य बिन्दु रहे हैं।' ऐसा मत प्रतिपादित करने वाले डॉ० अम्बेडकर से दलित लेखकों ने क्या प्रेरणा ली है? "अपने जीवन की सांघातिक परिस्थितियों को झेलना, सहना और प्रतिकार की सन्नद्धता संजोना इन सभी को सही अभिव्यक्ति देने के लिए आत्मकथा से अच्छी विधा दूसरी कैसे हो सकती है? उपन्यास या कहानी में इतना खुलापन नहीं आ सकता कि विश्वसनीय तरीके से झेले गये संघातों को सीधे-सीधे बयान किया जा सके। कटुता और अन्यमनस्कता जब क्षोभ उत्पन्न करते हैं तब एक ऊर्जावान दलित मन में सभी दबावों को झेलने के उपरान्त जो संभावनाशीलता जन्म लेती है, उसको शाब्दिक रूप में आत्मकथा से बेहतर ढालने का और कोई तरीका हाथ नहीं लगता। अन्तर्मन की कुंठा और खामोश प्रतिक्रिया को मुक्ति चेतना में ढलते हुए दिखाना इसी विधा की सामर्थ्य में है। जीवन में घटी घटनाओं को जैसा भोगा, जैसा महसूस किया वैसा ही कह देना कला का हिस्सा न हो, कोई बात नहीं, परन्तु घटना के पीछे का विचार-मंथन तो अपना कुछ अर्थ रखता है, यही 'कुछ' तो है जो उद्देश्य के हिस्से में आता है।<sup>13</sup> ये आत्मकथाएं दलितों की जीवन-शैली, जीवन-प्रक्रिया और जीवन-अनुभवों की यथार्थाभिव्यक्ति कराती हैं, और दलित साहित्य की लोकप्रिय विधा भी हैं। इतना ही नहीं, यह एक मूर्त विधा भी हैं, जो क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, द्वन्द्वों, कुण्ठाओं, प्रतिरोधों, विडम्बनाओं, का ऐसा इतिवृत्त प्रस्तुत करती हैं, अनुरंजन और काल्पनिक सुख के बरक्स सार्थक जीवन-दृष्टि भी जिसमें उपलब्ध होती है। जो व्यावहारिक जीवन में काम आती है। अतः परम्परागत मानदण्डों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है जो मापा जाना चाहिए। अब प्रश्न यह उठ रहा है, वैचारिकता, सार्थक जीवन दृष्टि, अनुभव की

सहज निष्कर्षबद्धता क्या आत्मकथा की विधागत स्वाभाविकता के भीतर उसकी सहजात प्रवृत्ति के रूप में अन्तर्लिप्त नहीं है। यदि आप दूसरे की पीड़ा का एहसास नहीं कर सकते तो आप मनुष्यता से कोसों दूर हैं। दलित साहित्य के लेखक इसी एहसास को जगाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि समाज उनकी पीड़ा को समझे। उनके भोगे हुए दर्द को समझकर शेष, समाज उनको बराबरी का दर्जा देना और उसका हकदार होना, दोनों को स्वीकार कर सके। यह साहित्य एक प्रकार से चेतावनी का साहित्य भी बनता जा रहा है, इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता जा रहा है। एक प्रकार से कहें तो दलित लेखकों की आत्मकथाओं ने दलित और अन्य दोनों समाजों पर अपने-अपने तरीके से सोचने का दबाव बनाया है। इस दृष्टि से आत्मकथा दलित साहित्य लेखन की प्रमुख विधा के रूप में उभर कर सामने आ रही है।<sup>14</sup>

इधर हाल में कुछ दलित आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य जगत में बेचैनी पैदा कर दी है। आलोचक इसे एक फैशन मान रहे हैं। दलित आत्मकथाओं की प्रमाणिकता पर उन्हें संदेह है। हिन्दी क्षेत्रों में इन आत्मकथाओं को बाकायदा उपन्यास के रूप में प्रोजेक्ट किया जा रहा है। हिन्दी में दो प्रमुख दलित आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं—मोहनदास नैमिशराय को 'अपने-अपने पिंजरे' और ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'जूठन'। मराठी से हिन्दी में अनूदित दो दलित आत्मकथाएं चर्चा के केन्द्र बिन्दु में रहीं हैं— दया पवार की 'अछूत' और शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी'। गिरिराज किशोर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं "अम्बेडकर ने अनेक युवा दलित लेखकों को रास्ता दिखाया, उन्होंने उन रचनाकारों से अपने को अलग करते हुए अपने परिवेश से सम्बन्धित क्रान्तिकारी रचनायें लिखीं। खासतौर से आत्मकथाएं कविताएं और गद्य रचनाएं भी लिखी गईं। पाठकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। आत्मकथायें खासतौर से एक ऐसे

यथार्थ को सामने लाती हैं जो था तो, लोग उसे देखाना नहीं चाहते थे। वे आँखें खोलने वाली रचनायें हैं। उपन्यास और आत्मकथाओं में अंतर होता है। आत्मकथायें व्यक्तिपरक होती हैं। मनुष्य जितना अपने बारे में जानता है उतना एक गद्य लेखक अपने पात्रों के बारे में प्रथम पुरुष के रूप में नहीं जानता। उसे अपने पात्रों को जानने के लिए अतिरिक्त उद्यम करना पड़ता है। लेखक के साथ-साथ पात्रों की भी सीमायें होती हैं। साथ ही तत्कालीन समाज भी समकालीन सोच में अंतर डालने का काम करता है। वह लेखक को उतनी आजादी नहीं देता जितनी आत्मकथाओं में मिल सकती है।<sup>15</sup>

परम्परावादी आलोचकों को दलितों की व्यथा पर संदेह क्यों है? उसकी पीड़ागत प्रामाणिकता पर वे विश्वास क्यों नहीं कर पा रहे हैं? हिन्दू समाज के जुल्मों का दस्तावेज प्रामाणित न बन सके क्या इसीलिए आत्मकथाओं को उपन्यास के रूप में प्रोजेक्ट किया जा रहा है? ये सभी सवाल दलित चिंतकों को चिंतित या विचलित नहीं करते, क्योंकि दलित साहित्य या दलित आत्माभिव्यक्ति किसी की विश्वसनीयता की मोहताज नहीं है, न ही गैर दलितों के द्वारा प्रामाणिकता के स्टैम्प की जरूरत है। फिर भी इन सभी सवालों से टकराने की जरूरत है, आज इसमें शोध और बहस की पर्याप्त गुंजाईश है।

आत्मकथा लिखने के लिए साहस और ईमानदारी होनी चाहिए; रचनाशीलता का अपना खुद का तेवर होना चाहिए— ये सारी चीजें एक दलित आत्मकथा में विद्यमान हैं। समाज की कुरीतियों और खौफनाक चेहरे को उजागर करने के लिए आत्मकथा के अलावा और कोई प्रामाणिक माध्यम नहीं हो सकता। दलित आत्मकथाओं ने समाज के 'एलिट वर्ग' के चिंतन को झकझोर दिया है। व्यवस्था के चरमराने और वर्चस्व के टूटने का खतरा पैदा हो गया है।

आत्मकथाओं ने गैर दलितों के सामाजिक चिंतन पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है।

गैर दलित चिंतकों को दलित आत्मकथा में अभिव्यक्त अपमान, पीड़ा और जहालत पर विश्वास नहीं है। इनकी प्रामाणिकता की वे परीक्षा लेना चाहते हैं। हिन्दू व्यवस्था के घावों को बदन खोलकर दिखाना पड़ेगा क्या? जीवन में कभी यातना से वास्ता पड़ा होता तो शायद उन्हें समझ में आता भी। फुले के शब्दों में कहें तो राख ही बता सकती है जलने की पीड़ा क्या है? कोई सवर्ण लेखक जो हिन्दू समाज की दी हुई अछूत पहचान को अपने से जोड़ सके? अपने को भंगी, चमार और पासी कह सके? डोम, चमार नाम सुनते ही चेहरे की रंगत बदल जाती है। मुंह का सारा जायका ही बिगड़ जाता है। सारी संवेदनशीलता पल-भर में उड़न छू हो जाती है। यह साहस सिर्फ दलित लेखकों में ही है, जिन्होंने अपनी अस्मिता और अपने होने के एहसास को जताया है। यह सब गैर दलितों के बूते का नहीं है। दलित कथाओं में जहाँ तक विषय और वस्तु का प्रश्न है तो यह सदियों से चली आ रही दलितों की उपेक्षा और तिरस्कार को केन्द्रित करके ही लिखी जा रही हैं। दलितों द्वारा शोषण का विरोध, सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष, प्रताड़ना के बावजूद कार्य करने की इच्छा शक्ति आदि का प्रदर्शन दलित कथाओं में प्रतिपाद्य के रूप में सामने आ रहा है। कुल मिलाकर अगर कहें तो हम यह कह सकते हैं कि दलित आत्मकथा तथा साहित्य दलितों के सार्वभौमिक शोषण का विरोध करते हुए साहित्य में गतिशील हो रहा है।<sup>16</sup>

यदि साहित्य में आत्मकथा नामक विधा है तो आत्मकथा लिखना गुनाह है क्या? और यदि आत्मकथा दर्द बयानी का माध्यम नहीं है तो दलित साहित्य उन सारी परिभाषाओं और मानदण्डों को ध्वस्त कर आत्मकथा के मानदण्डों और शर्तों को खुद ही विकसित और निर्धारित

करेगा। हिन्दी साहित्य के बने-बनाए ढर्रे पर चलने को मोहताज या बाध्य नहीं है दलित साहित्य।

दलित आत्मकथाओं को उपन्यास कहना पीड़ा, दर्द और यातना के संत्रास को तथा अभिव्यक्ति के तेवर को कम करना है, मजाक उड़ाना है। दलित आत्मकथाओं पर जो प्रश्न उठाए जा रहे हैं वे तिलमिलाहट के प्रतिरूप हैं या एक सकारात्मक दिशा देने की कोशिश इस पर गम्भीरता से सोचने, विचारने की जरूरत है। जब कोई दलित लेखक अपने को दोगली संतान कहता है, जब अपने परिवार और समाज की सच्चाइयों को उकेरता है तो क्या उसमें ईमानदारी नहीं है? जीते-जी अपने जीवन की कड़वी सच्चाइयों को बयान करना, कोई मजाक की बात नहीं है। और किसी में इतना साहस, ईमानदारी और सच कहने का माददा भी नहीं।

अभी तक हिन्दी में, सिर्फ दो-चार ही दलित आत्मकथाएँ आई हैं, जिनमें जीवन के दग्ध अनुभव एवं शोषण की लम्बी दास्तान है। शीघ्र ही डॉ० धर्मवीर और डॉ० श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा प्रकाशित होने वाली हैं। 'हंस' में प्रकाशित अस्थियों के अक्षर 'युद्धरत आम आदमी' में 'चमार' का और साहित्य अकादमी की पत्रिका-समकालीन भारतीय साहित्य के जुलाई-अगस्त सन् 2000 ई० के अंक में 'बचपन कंधों पर' शीर्षक से छपे कुछ अंश झकझोरते हैं। इनसे प्रेरित होकर अभी और भी आत्मकथाएँ आने की आशा साहित्य को है। दलित आत्मकथाएँ दलित चेतना के लिए उत्प्रेरक का कार्य कर रही हैं, थोपी गई हीनता-ग्रन्थि को आत्मकथाएँ तोड़ रही हैं और आत्मसम्मान की जिंदगी जीने का मार्ग प्रशस्त कर रही हैं। दलित मानसिकता को जकड़न से बहार निकालने का एक प्रयास है आत्मकथा। आने वाली नई दलित पीढ़ी के लिए दलित आत्मकथाओं का महत्व ज्यादा है। आने वाली पीढ़ी के लिए दलित

आत्मकथाएँ एक विस्तृत फलक तैयार करने का काम कर रही हैं। आत्मकथाओं में एक खास विजन है। इसी विजन के जरिए आने वाली पीढ़ी रचनाशीलता को पर्याप्त विस्तार देगी।

गैर दलितों द्वारा दलित आत्मकथा की प्रामाणिकता की मांग करना दुःख ही नहीं, बल्कि बेहद शर्मनाक बात है। इससे साफ जाहिर होता है कि वे दलित संवेदनशीलता से कोसों दूर हैं। दलित आत्मकथा में उन्हें सब कुछ झूठा लगता है। समाज के खौफनाक पंजों से कभी वास्ता पड़ा होता तो शायद उन्हें हकीकत का पता चलता। एक दलित को आत्मकथाएँ सच्ची क्यों लगती हैं? क्या सिर्फ इसलिए कि वह दलित है या उसने हिन्दू व्यवस्था के अत्याचारों को झेला और महसूस किया है? यही कारण है कि दलित चिंतन गैर दलितों की संवेदनशीलता और लेखन पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है।

हालाँकि गैर दलित चिंतकों, लेखकों, आलोचकों के बीच से एक ऐसा वर्ग उभर कर आ रहा है, जो दलित चिंतन और आक्रोश को विश्लेषित कर रहा है। दलित साहित्य को स्वीकारते हुए बड़ी संजीदगी से उसकी मीमांसा कर रहा है, जो कि स्वागत योग्य है।

दलित साहित्य और साहित्यकारों के सामने आज चुनौतियाँ हैं। अभी बहुत सारे अवरोधों को उन्हें तोड़ना शेष है। अपनी अस्मिता को सशक्तता से स्थापित करना है तथा आने वाली पीढ़ी को एक दिशा भी देनी है। अतः छोटे-मोटे दुराग्रहों से बचते हुए पूरी सामूहिकता और सहयोगवृत्ति के साथ इस आन्दोलन को उन्हें शिद्वत से गति देनी होगी। गैर दलित साहित्यकारों के अन्दर दलित साहित्य की स्वीकृति को लेकर एक अन्तर्विरोध है। इस जकड़न और अन्तर्विरोध से जितनी जल्दी वे मुक्त हो जाएँ, उतनी ही समरसता आएगी।

फुले-पेरियार-नारायण गुरु-अम्बेडकर ने आत्म सम्मान और सामाजिक अस्मिता की जो



भावभूमि तैयार की थी तथा संघर्ष का जो दीप प्रज्वलित किया था, आज वह और भी तेजी से प्रदीप्त हो उठा है। वेदना, आक्रोश और आमूल परिवर्तन की आकांक्षा से दलितों ने अस्मिता के संघर्ष को एक आकार देना शुरू कर दिया है। सदियों से जिसे साहित्य और समाज के हाशिए पर फेंक दिया गया था तथा जिसे अछूत, अतिशूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल, अवर्ण, पंचम तथा हरिजन आदि नामों से विहित करके घृणा, हिकारत और दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दावलियों और विशेषणों को टुकराकर स्वयं दलित के रूप में अपनी अस्मिता का बोध साहित्य, समाज और राजनीति तीनों ही स्तरों पर अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा कर जबर्दस्त दस्तर दे रहा है और अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष कर रहा है।

आत्मकथा लेखन की विधा एक चुनौती भरा कार्य होता है क्योंकि इसके लेखन हेतु जिस प्रकार की तटस्थता, ईमानदारी, स्पष्टता, प्रामाणिकता, निर्ममता और बेबाकी की आवश्यकता होती है। परम्परागत हिन्दी लेखन में कुछ एक आत्मकथाओं को छोड़ दें तो इसका इसमें एक अभाव सा दिखता है। इसलिए इन आत्मकथाओं पर निरन्तर सवाल उठते रहे हैं । कुछ हद तक आज दलित आत्मकथाओं पर भी प्रश्नचिह्न उठने लगे हैं। कुछ समीक्षकों का मानना है कि ये दलित लेखक अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी का पर्दाफाश सभी के समक्ष इतनी बेबाकी से क्यों कर रहे हैं। भाषा एवं सौंदर्य पर तो खुला प्रतिरोध दलितों एवं गैर दलितों की ओर से निरन्तर हो रहा है। इधर हाल में कुछ दलित आत्मकथाओं ने हिन्दी साहित्य जगत में बेचैनी पैदा कर दी है। आलोचक इसे एक फैशन मान रहे हैं। दलित आत्मव्यक्ति की प्रामाणिकता पर उन्हें संदेह है। हिन्दी क्षेत्रों में इन आत्मकथाओं को बाकायदा उपन्यास के रूप में प्रोजेक्ट किया जा रहा है। हिन्दी में जो प्रमुख दलित

आत्मकथाएं प्रकाशित हुई हैं—मोहनदास नैमिशराय को 'अपने—अपने पिंजरे' और ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'जूठन' एवं तुलसीराम की मुर्दहिया, मणिकर्णिका तथा मराठी से हिन्दी में अनूदित दो दलित आत्मकथाएँ चर्चा के केन्द्र बिन्दु में रही हैं— दया पवार की 'अछूत' और शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी'। गिरिराज किशोर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं "अम्बेडकर ने अनेक युवा दलित लेखकों को रास्ता दिखाया, उन्होंने उन रचनाकारों से अपने को अलग करते हुए अपने परिवेश से सम्बन्धित क्रान्तिकारी रचनायें लिखीं। खासतौर से आत्मकथाएं, कविताएं और गद्य रचनाएं भी लिखी गईं। पाठकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। आत्मकथायें खासतौर से एक ऐसे यथार्थ को सामने लाती हैं जो था तो, लोग उसे देखाना नहीं चाहते थे। वे आँखें खोलने वाली रचनायें हैं। उपन्यास और आत्मकथाओं में अंतर होता है। आत्मकथायें व्यक्तिपरक होती हैं। मनुष्य जितना अपने बारे में जानता है उतना एक गद्य लेखक अपने पात्रों के बारे में प्रथम पुरुष के रूप में नहीं जानता। उसे अपने पात्रों को जानने के लिए अतिरिक्त उद्यम करना पड़ता है। लेखक के साथ—साथ पात्रों की भी सीमायें होती हैं। साथ ही तत्कालीन समाज भी समकालीन सोच में अंतर डालने का काम करता है। वह लेखक को उतनी आजादी नहीं देता जितनी आत्मकथाओं में मिल सकती है।" परम्परावादी आलोचकों को दलितों की व्यथा पर संदेह क्यों है ? उसकी पीड़ागत प्रामाणिकता पर वे विश्वास क्यों नहीं कर पा रहे हैं ? परम्परावादियों एवं उनके समाज के जुल्मों का दस्तावेज प्रामाणित न बन सके क्या इसीलिए आत्मकथाओं को उपन्यास के रूप में प्रोजेक्ट किया जा रहा है? ये सभी सवाल दलित चिंतकों को चिंतित या विचलित नहीं करते, क्योंकि दलित साहित्य या दलित आत्मव्यक्ति किसी की विश्वसनीयता की मोहताज नहीं है, न ही गैर दलितों के द्वारा प्रामाणिकता के स्टैम्प की जरूरत है। फिर भी इन सभी सवालों से टकराने की

जरूरत है, आज इसमें शोध और बहस की पर्याप्त गुंजाईश है। और कुछ हद तक महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में इस पर शोध कार्य भी हो रहे

दलित लेखकों को दया से घृणा है। उन्हें दया और सहानुभूति नहीं अधिकार चाहिए। आत्मसम्मान और अस्मिता की पदचाप मराठी, गुजराती और अन्य भाषा-साहित्यों के साथ-साथ हिन्दी में नकार, वेदना और आक्रोश के रूप में दलित साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है। मोहक शब्दावलियों, आकर्षक अवधारणाओं –दार्शनिक उपपत्तियों की असलियत क्रमशः उघाड़ी जाने लगी है। खुद की बनाई हुई भीति से रहस्य की चादर दरकने तथा चटखने लगी हैं। गर्व से महिमामंडित करने वाले साहित्य के ठेकेदारों की साहित्यिकता और सौन्दर्यशास्त्र उन्हें ही मुँह चिढ़ाने को आतुर हैं।

अन्त में मैं अपनी बात को कथाक्रम के जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-50 के अंक में छपे लेख से समाप्त करना चाहूँगा- ये आत्मकथाएँ दलितों की जीवन-शैली, जीवन-प्रक्रिया और जीवन-अनुभवों की यथार्थाभिव्यक्ति कराती हैं, और दलित साहित्य की लोकप्रिय विधा भी हैं। इतना ही नहीं, यह एक मूर्त विधा भी हैं, जो क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, द्वन्द्वों, कुण्डाओं, प्रतिरोधों, विडम्बनाओं, का ऐसा इतिवृत्त प्रस्तुत करती हैं, अनुरंजन और काल्पनिक सुख के बरक्स सार्थक जीवन-दृष्टि भी जिसमें उपलब्ध होती है। जो व्यावहारिक जीवन में काम आती है। अतः परम्परागत मानदण्डों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है जो मापा जाना चाहिए। अब प्रश्न यह उठ रहा है, वैचारिकता, सार्थक जीवन दृष्टि, अनुभव की सहज निष्कर्षबद्धता क्या आत्मकथा की विधागत स्वाभाविकता के भीतर उसकी सहजात प्रवृत्ति के रूप में अन्तर्लिप्त नहीं है। यदि आप दूसरे की पीड़ा का एहसास नहीं कर सकते तो आप मनुष्यता से कोसों दूर हैं। दलित साहित्य के लेखक इसी एहसास को जगाना चाहते हैं। वे

चाहते हैं कि समाज उनकी पीड़ा को समझे। उनके भोगे हुए दर्द को समझकर शेष, समाज उनको बराबरी का दर्जा देना और उसका हकदार होना, दोनों को स्वीकार कर सके। यह साहित्य एक प्रकार से चेतावनी का साहित्य भी बनता जा रहा है, इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता जा रहा है। एक प्रकार से कहें तो दलित लेखकों की आत्मकथाओं ने दलित और अन्य दोनों समाजों पर अपने-अपने तरीके से सोचने का दबाव बनाया है। इस दृष्टि से आत्मकथा दलित साहित्य लेखन की प्रमुख विधा के रूप में उभर कर सामने आ रही है।”

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-53.
2. दलित कहानियाँ, रणसुभे, गंगावणे, पृ0-21.
3. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, पृ0-48.
4. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, पृ0-156.
5. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-53.
6. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य-आत्मकथा की परम्परा और दलित आत्मकथाएँ-रजतरानी मीनू, पृ0-156-157.
7. हंस, अगस्त-2004, पृ0-222- 223.
8. जनमत-अक्टूबर, 2002, पृ0-53.
9. हंस, अगस्त-2004, पृ0-228.
10. उत्तर प्रदेश, सितम्बर-अक्टूबर, 2002.
11. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-50.
12. चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, पृ0-157.
13. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-50.

14. कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ0-51.

16. दोहरा अभिशाप, पृ0-42.

15. दलित चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, पृ0-160.

---

*Copyright © 2017, Dr. Virendra Singh Yadav. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.*